

जीवन और मेधस: भाग 1

मध्यस्थ दर्शन के आधार पर

- साधन भट्टाचार्य

मेधस और शरीर का संबंध: मध्यस्थ दर्शन का दृष्टिकोण

1. विज्ञान - मेधस की अवधारणा

विज्ञान यह स्वीकार करता है कि कीड़े-मकौड़ों से लेकर मानव तक, सभी में मेधस रूपी एक केंद्रीय तंत्रिका नियंत्रण प्रणाली होती है, जिससे शरीर का संचालन होता है। मध्यस्थ दर्शन (प्रणेता: श्री ए. नागराज) भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि कीड़े-मकौड़ों में संचालित क्रियाएं मेधस के माध्यम से नियंत्रित होती हैं। उनमें जो आहार, निद्रा, भय, मैथुन जैसे गुण स्पष्ट होते हैं, जो शरीर और मेधस के परस्पर संबंध का इंगित करते हैं। (इनमें मेधस को चलाने वाला कोई नहीं रहता।)

पदार्थावस्था एवं प्राणावस्था की स्मृति मेधस रहित तथा जीवनावस्था व ज्ञानावस्था की स्मृति मेधस सम्पन्न है। (मानव व्यवहार दर्शन, पृष्ठ - 34)

2. पेड़-पौधे और जीवन की अवधारणा

धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण में यह धारणा है कि पेड़-पौधों में भी जीवन होता है। विज्ञान उन्हें "जीवित" तो मानता है, किंतु यहाँ एक भौतिक और वैचारिक भ्रम उत्पन्न होता है: Life, Living, और Consciousness का अक्सर एक ही अर्थ में प्रयोग किया जाता है।

यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि "चैतन्यता" शरीर का अंग नहीं है, बल्कि एक स्वतंत्र इकाई है — यह बिंदु मध्यस्थ दर्शन में विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है। वैज्ञानिक समुदाय और मनोवैज्ञानिकों के बीच इस विषय में मतभेद आज भी बने हुए हैं।

3. जीवन की वास्तविक परिभाषा: मध्यस्थ दर्शन के अनुसार

मध्यस्थ दर्शन के अनुसार "जीवन" कोई भौतिक इकाई नहीं है, बल्कि एक चैतन्य इकाई है, जो मनुष्य में विचार, निर्णय और अनुभूति की क्षमता प्रदान करती है।

1. जीवन एक गठन पूर्ण परमाणु है।
2. यह सभी प्रकार के भौतिक और रासायनिक क्रियाकलापों से मुक्त है इसलिए यह निरंतर है, अमर है।
3. यह पाँच अविभाज्य अंगों से युक्त होता है: मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि, और आत्मा।

जीवन चार अवस्थाओं में हो सकता है:

1. अजागृत : जीव अवस्था में
 2. अल्प जागृत - जब जीवन शरीर (brain/मेधस) से प्रभावित रहता है। इससे दुःखी रहता है लेकिन इसकी पीड़ा से छूटना चाहता है।
 3. अर्ध-जागृत - जब जीवन में सत्य को समझने की जिज्ञासा प्रारंभ होता है और इसे अपना लक्ष्य मानकर सारे कार्य करता है।
 4. जागृत (पूर्ण जागृत)- जब जीवन सम्पूर्ण समझ के साथ स्वतंत्र रूप से मेधस के माध्यम से शरीर का संचालन करता है। व्यवस्था में भागीदारी करता है और इसका स्रोत बनता है।
- जीवावस्था में, मन शरीर को जीने की आशा पूर्वक जीवंत बनाये रखते हुये वंशानुषंगीय विधि से कार्य करता है। अतः इसे अजागृत की संज्ञा है। जीवावस्था में बौद्धिक पक्ष अविकसित रहता है। उस अवस्था में मन, शरीर द्वारा नियंत्रित होता है तथा वृत्ति और चित्त उपेक्षित रहते हैं। (पृष्ठ 140, मानव व्यवहार दर्शन)
 - ज्ञानावस्था में बुद्धि तीन अवस्था में परिलक्षित होती है :-
 1. अल्प विकसित (अल्प जागृत) जीवन में इच्छा पूर्वक विचार एवं आशावादी प्रवृत्ति हो तो उसे अल्प जागृत की संज्ञा दी जाती है। इस दशा में मन, वृत्ति, चित्त तंत्रित होते हैं।
 2. अर्ध विकसित (अर्ध जागृत) आत्म बोध रहित संकल्प (अवधारणा) पूर्वक इच्छा, विचार व आशा की प्रवृत्ति को अर्ध जागृत की संज्ञा है। इस दशा में मन, वृत्ति व चित्त बुद्धि-तंत्रित होते हैं।
 3. विकसित (जागृत-पूर्ण जागृत) आत्म बोध सहित संकल्प पूर्वक इच्छा, विचार, आशा प्रवृत्ति को जागृत की संज्ञा दी जाती है। इस दशा में मन, वृत्ति, चित्त व बुद्धि आत्मा द्वारा नियंत्रित एवं अनुशासित होते हैं। (पृष्ठ 141, मानव व्यवहार दर्शन)

3. जीवन और मेधस (शरीर) को समझने की दृष्टि से वर्गीकरण: संपूर्ण अस्तित्व को निम्न 8 अवस्थाओं में देख सकते हैं

1. क्रिया है, पर श्वसन, मेधस और जीवन नहीं है- जैसे जड़ पदार्थ: मिट्टी, पत्थर, जल, वायु आदि।
2. क्रिया व श्वसन है, पर मेधस और जीवन नहीं है जैसे पेड़-पौधे (जीवित हैं, कोई केंद्रीय नियंत्रण नहीं)।

यह कल्पनाशीलता, कर्मस्वतंत्रता की अभिव्यक्ति जीवन की महिमा है, न कि शरीर की। क्योंकि, शरीर प्राणावस्था की द्रव्य वस्तु, प्रक्रिया से ही सम्पादित हुआ है। ये पूरा रचना प्राणकोषा प्रधान है। (पृष्ठ 162, मानव कर्म दर्शन, 2004)

हर प्राणकोषा में प्राण सूत्रों का होना पाया जाता है। इसी में रचना-तत्त्व व पुष्टि-तत्त्व निश्चितमात्रा में समाया रहता है और रचना विधि निहित रहता है। ऐसे प्राणसूत्र अपने में श्वसन क्रिया संपन्न रहते हैं। (पृष्ठ 112, मानव कर्म दर्शन, 2004)

पदार्थावस्था एवं प्राणावस्था की सृष्टि मेधस रहित तथा जीवावस्था व ज्ञानावस्था की सृष्टि मेधस सम्पन्न है। (पृष्ठ 112, मानव व्यवहार दर्शन)

3. क्रिया, श्वसन व मेधस है, पर जीवन नहीं है जैसे कीड़े-मकोड़े; ये सभी शरीर, मेधस (brain) द्वारा संचालित होते हैं। इनमें जीवन से रहता ही नहीं है।

जीवात्माओं की शरीर रचना भी प्राणकोशिका समूह से निर्मित होती है। इस रचना में मेधस एक विशिष्ट भाग समाहित रहता है जिसे प्राणावस्था में नहीं पाया जाता है। (पृष्ठ 36, मानव अनुभव दर्शन, 2004)

जिन शरीरों में जीवन के संयोग से ही पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ कार्य कर पाती हैं, ऐसे शरीर में समृद्ध मेधस का होना पहचाना जा सकता है। इसके अलावा बाकी सभी प्रकार की रचनाएँ स्वेदज होना स्पष्ट है। (पृष्ठ 213 - 214, समाधानात्मक भौतिकवाद, 2009)

जब प्राणावस्था अपने में समृद्ध हो जाता है, वैसे ही जीवावस्था का उपक्रम, स्वेदज विधि से आरंभ होता है। स्वेदज संसार में पाए जाने वाले कुछ वस्तुओं अथवा जीवों में यह प्रक्रिया देखी गई है कि वह अंडज परंपरा के रूप में परिवर्तित हो गई। जैसे- बिच्छू स्वाभाविक रूप में स्वेदज निर्मित ही है। यह अंडज प्रणाली को व्यक्त कर देता है इसी प्रकार और भी संभावनाएँ बनी है। (पृष्ठ 189 - 190, समाधानात्मक भौतिकवाद, 2009)

स्वेदज व असमृद्ध मेधस युक्त रचनाओं को जीवन चलाता नहीं है अथवा वे चलाने योग्य नहीं होते। (पृष्ठ 299, समाधानात्मक भौतिकवाद, 2009)

4. क्रिया है, श्वसन है, समृद्ध मेधस व जीवन है- जैसे गाय, हाथी आदि; यहाँ जीवन शरीर (मेधस) के अनुसार कार्य करता है, और इसे वंशानुषंगीयता कहा गया है। यहाँ जीवन अजागृत है।

इसके स्पष्टीकरण में सप्त धातुओं से रचित शरीर, समृद्ध मेधसतंत्र और मानव के निर्देश संकेतों को ग्रहण करने की क्षमता संपन्न जीवों में जीवन का होना प्रमाणित होता है। (पृष्ठ 112, मानव कर्म दर्शन, 2004)

इसी आधार पर किसी - किसी जीव शरीर से सप्त धातुओं का समावेश और सर्वाधिक समृद्ध मेधस रचना संपन्न हुई। (पृष्ठ 107, मानव कर्म दर्शन, 2004)

इस ऑकलन क्रम में जीवों के शरीर में जब समृद्ध मेधस की रचना होती हैं (या हो जाती है) उस स्थिति में ऐसे शरीर को जीवन संचालित करता है। ऐसे शरीर में ही सप्त धातुओं के क्रियाकलाप, एक दूसरे के तालमेल के सहित संपन्न हुआ देखने को मिलता है। सप्त धातुएँ हैं- 1. रस, 2. माँस, 3. मज्जा, 4. रक्त, 5. स्नायु, 6. हड्डी और 7. वसा । (पृष्ठ 213, समाधानात्मक भौतिकवाद, 2009)

5. क्रिया है, श्वसन है, समृद्धिपूर्ण मेधस है और जीवन भ्रमित है जैसे अल्प जागृत मानव; जीवन शरीर से प्रभावित होता है, कल्पनाशीलता व्यक्त होती है पर इसका तृप्ति बिंदु नहीं मिलता। इससे पीड़ित रहता है और इससे मुक्त होना चाहता है।

सर्वोच्च विकसित रचना मानव शरीर में मेधस ही है। समृद्धि पूर्ण मेधस तन्त्र युक्त मानव शरीर ही है। (पृष्ठ 41, मानव व्यवहार दर्शन, 2011)

मानव शरीर सर्वोच्च विकसित रचना इसलिये है कि मानव शरीर में मेधस रचना पूर्णतया विकसित हो चुकी है। (पृष्ठ 64, मानव कर्म दर्शन, 2004)

6. क्रिया है, श्वसन है, समृद्धि पूर्ण मेधस है और जीवन जागृति के लिए पूर्ण संकल्पित हो गया है - जिसे अर्ध जागृत मानव कह रहे हैं।

7. जहाँ जीवन पूर्ण समझ के साथ स्वतंत्र रहते हुए मेधस के माध्यम से शरीर को संचालित करता है। और समझ का प्रमाण अपने व्यवहार और व्यवस्था में प्रस्तुत करता है। ये जागृत मानव हैं।

8. यहां जीवन पूर्ण समझ के साथ व्यवहार और व्यवस्था में भागीदारी करता है और अन्य लोगों को जागृत होने के लिए स्रोत बनता है। शिक्षा संस्कार का धारक वाहक बनता है।

अनुभव, प्रमाण, बोध की संप्रेषणा मेधस तंत्र के माध्यम से होता है। यह मानव परंपरा में ही होता है। (पृष्ठ 48, मानव व्यवहार दर्शन, 2011)

इन सारे रचनाओं का क्रम और मानव शरीर के अध्ययन से यही पता लगता है कि मानव शरीर में मेधस रचना की समृद्धि पूर्णतया सुस्पष्ट हुई है। इसका प्रमाण यही है कि मानव में कल्पनाशीलता, कर्मस्वतंत्रता और उसकी तृप्ति के रूप में जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने को मेधस के माध्यम से व्यक्त करने योग्य इकाई है। (पृष्ठ 62, मानव कर्म दर्शन, 2004)

S. No	अवस्था	क्रिया	श्वसन	मेधस	समृद्धि मेधस	समृद्धि पूर्ण मेधस	अल्प जागृत	अर्ध जागृत	जागृत	पूर्ण जागृत
1	पदार्थ	✓								
2	प्राण	✓	✓							
3	जीव (जीवन रहित)	✓	✓	✓						
4	जीव (जीवन सहित)	✓	✓		✓					
5	ज्ञान (भ्रमित)	✓	✓			✓	✓			
6	ज्ञान (जागृति के लिए संकल्पित)	✓	✓			✓		✓		
7	ज्ञान (समझ पूर्ण)	✓	✓			✓			✓	
8	ज्ञान (प्रमाण सहित)	✓	✓			✓				✓

विवाह संस्कार

- साधन भट्टाचार्य

इस पृथ्वी पर मनुष्य के प्रारंभिक अवस्था को आदि मानव कहा जाता है। यह, वह समय है जब धरती में किसी एक स्थान पर या कुछ भिन्न-भिन्न स्थानों पर मानव शरीर नर और मादा के रूप में अस्तित्व में आए। इससे मानव समुदाय या वंश का विस्तार होने लगा। उस समय मानव के ज्ञान का आधार मुख्य रूप से वातावरण में रहने वाले पशु पक्षी ही थे। इसके ऊपर अपनी कल्पना शीलता और कर्म स्वतंत्रता के प्रयोग से कुछ अनुमान किया, उसको प्रयोग किया और उसके आधार पर बनी समझ के अनुसार जीने, सीखने पुनः जीने की परंपरा बनने लगी।

आज हम कल्पना करें तो अभी पशु पक्षियों के एक झुंड की तरह मानव भी झुंड में रहता रहा और यहां प्रजनन विधियों से मनुष्यों की संख्या में वृद्धि भी होती रही। इस प्रक्रिया में माता और संतान की पहचान तो बहुत स्पष्ट हो जाती है।

मानव संतान का पालन पोषण एक दीर्घकालिक प्रक्रिया है और इसी के बाद वह अपने आप को वातावरण में जीने योग्य बन पाता है। यह अवधि 15 से 20 वर्ष की हो सकती है या और अधिक। इस पूरी अवधि में संतान के पालन पोषण में अत्यधिक समय और श्रम लगता है, छोटी-छोटी चीजों को सीखाना होता है।

इस पूरी प्रक्रिया के लिए सभी माताएँ अकेले सक्षम नहीं हो सकती। अपना आहार और सुरक्षा का प्रबंध करना साथ-साथ संतान के आहार और सुरक्षा का प्रबंध करना जरूरी हो जाता है।

इसके लिए संतान के कारक तत्व के रूप में माता पिता की पहचान होना अनिवार्य होता है। जिससे माता के साथ पिता भी इस सेवा कार्य में सहयोगी हो। पिता की पहचान के लिए जो सबसे प्रभावी और सरल विधि स्वीकारा गया वह है एक पतिव्रत रहना। यह तर्क आगे जाकर पुरुषों के लिए बहु पत्नी की संभावना को बढ़ावा दिया। पुरुषों के लिए एक पत्नी व्रत के साथ बहु पत्नी भी विभिन्न समुदायों में प्रचलित हुआ। इसके बहुत से दुष्परिणाम सामने आने पर एक पत्नी व्रत सामान्य नियम के रूप में रहा। विशेष परिस्थिति में बहु पत्नी की भी मान्यता रही।

यदि सामाजिकता पर विचार करें तो इसके मूल में संबंध ही होगा और सारे संबंधों के मूल में माता-पिता और संतान का ही संबंध सबसे पहले आएगा।

इस प्रकार विवाह एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे सम्बन्ध और सामाजिकता की शुरुआत होती है। माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-भाई, भाई बहन, बहन यह सारे संबंध विवाह से ही बनते हैं। इसको और आगे विस्तार किया जाए तो काका काकी, मामा मामी, मौसी मौसी, बुआ फूफा, ताऊ ताई, दादा दादी, नाना नानी जैसे संबंध से पूरे कुटुंब का विस्तार होता है।

इन्हीं को जन्म संबंध या परिवार संबंध कहा जाता है। परिवार के बाहर और कुटुंब की सीमा में इसे चचेरे, ममेरे, फुफेरे भाई बहन के रूप में माना जाता है और इनके शिष्टाचार परिभाषित हैं।

कुटुंब के बाहर इन्हीं को पिता तुल्य, माता तुल्य या भाई बहन तुल्य रूप में स्वीकारा जाता है और इनके संबोधन परिवार और कुटुंब संबंध जैसे ही हैं।

माता पिता तुल्य और इससे भी श्रेष्ठ संबंध के रूप में गुरु शिष्य संबंध को पहचाना गया है। यह निश्चित है कि जिन्होंने माता-पिता के संबंध को पहचाना, स्वीकारा और निर्वाह नहीं किया उसके लिए गुरु के संबंध को स्वीकारना लगभग असंभव है।

आज हम मध्यस्थ दर्शन के अध्ययन में यह बात समझ सकते हैं कि मानव संबंध कुल सात प्रकार ही है। इसमें से हमने ऊपर पांच प्रकार के संबंधों के बारे में विचार किया। बचे हुए दो संबंध व्यवसाय संबंध और व्यवस्था संबंध हैं जिसको मध्यस्थ दर्शन में क्रमशः साथी सहयोगी संबंध और व्यवस्था संबंध कहा गया है।

यदि हम भौतिकवाद की समीक्षा करें तो यह पाएंगे कि वहां पर केवल इन्हीं दो संबंधों को स्वीकारा गया है: व्यवस्था संबंध और व्यवसाय संबंध।

इसके अलावा मानव संबंधों को स्वीकार ही नहीं किया गया है।

आदर्शवादी विचारधारा में एक समय तक सभी संबंधों को स्वीकार किया गया है लेकिन एक समय के बाद सभी संबंधों के बंधन से मुक्त होने का उपदेश दिया गया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है की सामाजिकता की समझ के लिए मानव संबंधों का अध्ययन अनिवार्य है। मानव संबंधों के अध्ययन के लिए विवाह एक अति महत्वपूर्ण घटना है। इसी के साथ एक पतिव्रत और एक पत्नी व्रत जैसे आधारभूत संकल्प की अनिवार्यता है।

इसी से सामाजिक नियम का निर्वाह होता है जो कि स्व नारी/ स्व पुरुष, स्व धन, और दयापूर्ण कार्य है। यही मानव की जागृति का प्रथम चरण है और यही समाज में अभयता का भी अनिवार्य बिंदु है।

मित्र सम्बन्ध (मानव व्यवहार दर्शन से उद्धृत)

समाधान, समृद्धि सहज समानता ही मित्र संबंध है एवं सर्वतोमुखी समाधान में सहभागिता ही उसकी मित्र संज्ञा है।

जिसमें बैर का अभाव हो उसकी मित्र संज्ञा है। इस सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि एक पक्ष यदि किसी विपरीत घटना या परिस्थिति से घिर जाए तो दूसरा पक्ष अपना पूरा तन, मन और धन व्यय करने के लिए तथा मित्र को उस घटना-विशेष अथवा परिस्थिति विशेष से उबारने के लिये प्रयत्नशील हो जाये। यही मित्रता की चरम उपलब्धि है। घटना ग्रस्त या परिस्थिति ग्रस्त मित्र की जो कठिनाइयाँ हैं, वह पूरी की पूरी दूसरे मित्र को प्रतिभासित होती है। मित्रता की कसौटी ही यह है कि परस्पर की कठिनाइयों को दूसरा पक्ष सटीक स्वीकार लेता है और यदि उसका परिहार है, तो उसके लिये अपनी शक्तियों को नियोजित करता है।

मित्रता की निरंतरता न्याय पूर्ण व्यवहार से ही सफल होती है। निर्वाह के इन समस्त सम्बन्धों से व्यक्ति से समष्टि तक पोषक अन्यथा शोषक सिद्ध है। मित्र-मित्र सम्बन्ध की परस्परता में विश्वास, सम्मान व स्नेह मूल्य प्रधान है एवं प्रेम संबंध भावी रहता है।

मानव व्यवहार दर्शन, अध्याय १६, पृष्ठ १२७

